साहित्यिक ऋषि—रवींद्र

इंग्लैंड में जाड़े का मौसम कितना कठिन और कष्टप्रद होता है इसे भुक्तभोगी जानते हैं ? मोटे-मोटे ऊनी कपड़े लाद लेने पर भी शीत से पीछा नहीं छूटता। ऐसे ही एक दिन में महाकवि रवींद्र लंदन की एक सड़क पर जा रहे थे। चलते-चलते उन्होंने देखा कि मार्ग के पास ही एक व्यक्ति खड़ा है। उसके फटे जूतों में से उसके पैर दिखाई पड़ रहे थे, क्योंकि उसके पास मोजे नहीं थे। कपड़ों की कमी से सीना भी कुछ खुला था। इंग्लैंड में भीख माँगना कानूनन जुर्म माना जाता है, इसलिए उसने कुछ कहा तो नहीं, पर एक क्षण के लिए अर्थपूर्ण दृष्टि से देखता रहा। रवि बाबू का हृदय उसकी दीनता पर द्रवित हो गया और उसके हाथ पर एक गिन्नी (स्वर्ण-मुद्रा) रखकर आगे चल दिये। एक मिनट बाद ही वह दौड़ता हुआ इनके पास आया और कहने लगा—"महोदय, आपने भूल से मुझे एक गिन्नी दे दी है।" यह कहकर वह उसे वापस करने लगा। जब रवि बाबू ने आश्वासन दिया तब वह उसे लेकर गया।

इस छोटी-सी घटना से जहाँ महाकवि की दयार्द्र प्रकृति का पता लगता है, वहाँ यह भी विदित होता है कि इंग्लैंड जैसे "रुपया परस्त" समझे जाने वाले देश के निवासी हम "संसार को नश्वर" कहने वाले लोगों की अपेक्षा कितने अधिक ईमानदार और सत्य-व्यवहार करने वाले हैं। एक गरीब भिखारी की तो बात क्या, यहाँ के अधिकांश सफेदपोश बाबू और धनी व्यक्ति भी भूल से किसी से कुछ अधिक पा जाएँ तो उसे चुपके से जेब के हवाले करते हैं। इतना ही क्यों, हमने प्रायः सेठ-साहूकारों को तरकारी मंडी में सौदा तुल जाने पर छोटी के बदले बड़ी चीज लेने का प्रयत्न करते देखा है। भाव-ताव और लेन-देन में झूठे व्यवहार को यहाँ अधिकांश व्यक्ति एक बुराई के बदले "चतुरता" समझते हैं। इतने पर भी हम अपने को संसार भर में सबसे अधिक धार्मिक और आदर्शवादी मानते हैं। इस दंभ का कुछ ठिकाना नहीं है।

रवि बाबू का यह अनुभव कुछ निराला नहीं था। एक अन्य अवसर पर उन्होंने जेब में छोटा सिक्का न होने पर स्टेशन के एक कुली को एक आने के बदले एक शिलिंग (१२ आना) दे दिया, तो वह कुछ देर बाद उसे लौटाने आया, क्योंकि वह अपनी नियत मजदूरी के सिवाय और कुछ लेना बुरा समझता था। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण भारतीय सज्जनों के पढ़ने को मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि लेन-देन और व्यवहार में सत्यता का पालन करना उनका स्वभाव बन गया है, जबकि हमारे यहाँ बालकों को छोटेपन से ही ऐसी बातों में चालाकी और तिकड़म बर्तने की प्रेरणा दी जाती है। निस्संदेह यह एक शोचनीय मनोवृत्ति है और हमको इस संबंध में रवि बाबू के भ्रमणवृतांत में वर्णित इन घटनाओं से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

इसी "भ्रमणवृतांत" में एक और ध्यान देने योग्य बात रवींद्र नाथ का स्वदेशी प्रेम और भारतीय होने का गर्व अनुभव करना है। वैसे इनके ठाकुर परिवार हर तरह से "आधुनिक" था। इनके सबसे बड़े भाई सत्येंद्रनाथ ठाकुर जो अहमदाबाद में जज थे, अंग्रेजीयत के इतने प्रेमी थे कि उनके स्त्री-बच्चे प्रायः इंग्लैंड में ही रहते थे। उन्होंने रवींद्र को भी इसलिए अपने पास बुलाकर रखा था कि इंग्लैंड-यात्रा के पहले अंग्रेजों का सा रहन-सहन सीख लें। पर बड़ी कोशिश करने पर इनमें कोई परिवर्तन न हो सका और ये उस १७ वर्ष की युवावस्था में इंग्लैंड में भारतीय पोशाक में ही रहा करते थे। इस कारण अनेक बार उनको असुविधा भी उठानी पड़ती थी और रास्ते में बीसियों लोग एक तमाशे की तरह उनको देखने के लिए दौड़-दौड़कर आते थे। स्कूल के बालक तो उनकी खूब हँसी उड़ाते थे और कभी कोई उद्दंड लड़का चिल्लाकर कहता—"अरे, इस काले को देखो।" पर रवि बाबू ऐसी बातों से कभी संकुचित व लज्जित नहीं हुए। उन्होंने किसी प्रकार के दबाव से विलायती कोट, पैंट और टाई धारण स्वीकार न किया।

भारतवासियों में विदेशी शासन के प्रभाव से यह एक बड़ा दोष उत्पन्न हो गया कि वे अपनी पोशाक की अपेक्षा विदेशी पोशाक

पहनने में अधिक गौरव अनुभव करते हैं। अंग्रेजी पेंट उठने-बैठने में कितनी असुविधाजनक होता है, यह किसी से छिपा नहीं। टाई का पहनना स्पष्ट हो निरर्थक और मूर्खता की-सी बात जान पड़ती है। फिर भी लोग बड़े शौक से इनका व्यवहार करते हैं। खासकर आजकल पेंट का व्यवहार तो नवयुवकों में इतना अधिक बढ़ गया है कि उतना अंग्रेजी शासनकाल में भी न था। तंग पेंट के पहनने से टाँगें जैसी भद्दी, बाँस की तरह लंबी लगने लगती हैं वह भी प्रत्यक्ष ही है। हम देखते हैं कि हमारे देश में जितने विदेशी पर्यटक आते हैं, उनमें से कोई अपनी पोशाक को नहीं बदलता। अंग्रेज हाकिम यहाँ पर बीस-बीस वर्ष रह जाते थे, पर सदैव अपनी भारी और चुस्त पोशाक ही पहनते थे, चाहे वह यहाँ के गर्मी के मौसम में कष्टदायक ही सिद्ध होती थी। इसका कारण उनका जातीयता का भाव ही था। रवि बाबू ने भी इस तथ्य को समझा और इंग्लैंड में बड़े-बड़े लोगों से मित्रता हाने पर भी उन्होंने भारतीय वेषभूषा में परिवर्तन नहीं किया।

जन्म और बाल्यावस्था—

ऐसे स्वदेश और साहित्य के प्रेमी महाकवि रवींद्र नाथ ठाकुर का जन्म (सन् १८६१ से १९४१) कलकत्ता के भारत प्रसिद्ध ठाकुर वंश में हुआ था। ठाकुर का अर्थ हिंदी प्रांतों में क्षत्रियों से लिया जाता है। पर रवींद्र नाथ ब्राह्मण थे, यद्यपि कुछ प्राचीनतावादी बादशाही जमाने की किसी घटना के आधार पर उनको "ब्राह्मणत्व" से हीन कहते थे, पर धन, मान, विद्या, पदवी सब बातों की दृष्टि से यह वंश बंगाल के सर्वोच्च घरानों में से एक समझा जाता था। रवींद्र नाथ के पिता महर्षि देवेंद्र नाथ ठाकुर देश के एक माननीय धार्मिक और सामाजिक नेता थे और उनके सभी भाई बहुत ऊँचे पदों पर आसीन थे।

रवि बाबू के पिता प्रायः बाहर रहते थे और माता बीमार रहा करती थी, इसलिए इनकी देखभाल प्रायः नौकरों के ही जिम्मे रहती थी। घर का वह नौकर प्रायः इनको बैठाकर इनके चारों तरफ एक लकीर खींच देता और इनसे कहता कि, यदि तुम इस लकीर के

बाहर पैर रखोगे तो बड़ी हानि उठाओगे। इस प्रकार इनको डराकर वह बाजार चला जाता और बड़ी देर में लौटकर आता। रवींद्र को उस घेरे में बैठे-बैठे बड़ा कष्ट प्रतीत होता, पर अबोध होने के कारण वे उससे बाहर नहीं निकलते। फिर कुछ बड़े होने पर जब उनको स्कूल भेजा गया तो वहाँ भी शिक्षकों का कठोर शासन, डाँट-फटकार और धमकाते रहना ही दिखाई पड़ा था। घर में भी वे अपने चौदह भाई-बहिनों में सबसे छोटे थे, इसलिए सबसे दबना पड़ता। इस परिस्थिति में उनका स्वभाव अंतर्मुख होने लगा और वे कल्पना-लोक में विचरण करके मन को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगे। संभवतः इसी परिस्थिति ने भी उनके भीतर निहित "कवि" को अपेक्षाकृत शीघ्र जाग्रत् किया और १३ वर्ष की आयु से ही उनकी कविताएँ मासिक पत्रों में प्रकाशित होने लगीं।

ठाकुर परिवार के प्रयत्न से कलकत्ते में एक हिंदू मेला प्रचलित किया गया था। इसमें देश की बनी अनेक वस्तुओं और सूती, रेशमी वस्त्र आदि का प्रदर्शन होता था। अनेक कारीगर अपने गुण का परिचय देने को इसमें भाग लेते थे। संगीत, कविता और साहित्य चर्चा भी होती थी। उसी छोटी आयु में एक बार उस अवसर पर आपने स्वदेशी-प्रेम के संबंध में बड़ी सुंदर कविता पढ़ी। इसे जनता ने बहुत पसंद किया और उसे अमृत बाजार पत्रिका में प्रकाशित भी किया गया।

रविबाबू के घर में प्रायः श्रेष्ठ लेखकों और कवियों का आना-जाना लगा रहता था और साहित्य गोष्ठियाँ होती रहती थीं। इससे कविता की तरफ इनकी जन्मजात रुचि और प्रतिभा निरंतर विकसित होती रही। सन् १८७३ में उपनयन संस्कार होने के पश्चात् वे अपने पिता के साथ भ्रमण करने को हिमालय पर्वत पर गये। उस प्राकृतिक वातावरण में इनको जो प्रेरणा मिली उससे पर्वत-जल स्रोतों के समान इनकी काव्य-रचना का प्रवाह भी वेग से प्रवाहित होने लगा। वे घंटों पर्वत के सुरम्य स्थानों, वृक्षावली, फलों से भरे मैदानों, नदी, नालों के किनारे आनंद के साथ घूमते रहते और किसी पेड़ के नीचे कविता लिखने बैठ जाते।

पहाड़ पर से घर वापस आने पर भी उन्होंने अपना वही साहित्यिक क्रम बनाये रखा और भाई तथा घर वालों के आग्रह पर भी स्कूली पढ़ाई में मन नहीं लगाया। अवकाश के समय जब घर की स्त्रियाँ उनकी माता के कमरे में जमा होतीं तो वे एक ऊँचे स्थान पर बैठकर भ्रमण की घटनाओं को सुनाया करते। उनकी शैली एक कहानी के ढंग पर होती थी, जिससे सब उसे बड़ी रुचि के साथ सुनते थे। यहीं से उनमें कहानी लिखने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। बंकिम चंद्र चटर्जी का "बंग दर्शन" मासिक पत्र उनको बहुत पसंद था। विशेष रूप से उसके साहित्यिक निबंध और आलोचनाएँ उनको बहुत पसंद आती थीं। इनका प्रभाव उनके ऊपर स्थायी रहा और बहुत वर्षों बाद बंकिम बाबू का देहांत हो जाने पर उन्होंने एक लेख में इनकी चर्चा करते हुए लिखा था—

"जिस दिन से बंकिम बाबू ने समालोचना करना छोड़ दिया, उस दिन से बंगला भाषा में कोई अच्छा समालोचक पैदा नहीं हुआ। बंकिम बाबू का स्थान आज तक इस दृष्टि से खाली ही पड़ा है। अभी तक उसका कोई अधिकारी पैदा नहीं हुआ। उनकी समालोचनाएँ बंगला-साहित्य में अराजकता नहीं फैलने देती थीं। बंकिम साहित्य-जगत् के राजा थे। आज हमारे साहित्य-सिंहासन के राजा के उठ जाने से हमारे साहित्य में गड़बड़ी फैली हुई है।"

इस प्रकार रवि बाबू की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ आरंभिक जीवन में ही बढ़ती चली गईं। उनके भाई श्री ज्योतींद्र नाथ ठाकुर "भारती" नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित करने लगे। उसमें भी उन्होंने बहुत से विविध विषयक लेख प्रकाशित कराये। इसी में उन्होंने "भानुसिंहेर पदावली" नाम की कविता पुस्तक क्रमशः प्रकाशित कराई, जो बाद में पुस्तक रूप छपने पर हाथों हाथ बिक गई।

रवि बाबू का साहित्यक-जीवन अनेक वर्तमान लेखकों को प्रेरणात्मक सिद्ध हो सकता है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक साहित्य-साधना करके इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त की। उनके घर वाले उनको एक बड़ा बैरिस्टर अथवा सरकारी अफसर बनाना चाहते थे, पर उन्होंने उन उच्च पदों की तरफ आकर्षित न होकर अपनी समस्त शक्ति

साहित्य सेवा के लिए ही अर्पित कर दी। यह सच है कि उनको कुछ विशेष साधन प्राप्त थे, पर तब भी उन्होंने अपना लक्ष्य प्राप्त करने में पर्याप्त परिश्रम किया। आजकल अनेक व्यक्ति सामान्य प्रतिभा और साधनों के बल पर ही सुलेखक होने का स्वप्न देखा करते हैं और आश्चर्य यह कि वे इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उचित परिश्रम भी नहीं करना चाहते। उनकी इच्छा यही रहती है कि वे आरंभ में ही जो कुछ भला-बुरा लिखें, वही छप जाए और उनकी प्रशंसा होने लगे। पर किसी भी कार्य में इस प्रकार थोथी इच्छाओं से सफलता नहीं मिल सकती। अगर वे रवि बाबू की तरह अपनी शक्तियों को लक्ष्य की पूर्ति में लगा दें और उसके लिए आवश्यक परिश्रम और त्याग करें तो वे अवश्य सफल मनोरथ हो सकते हैं।

विलायत यात्रा और शिक्षा—

जब घर वालों ने देखाकि रवि बाबू यहाँ पढ़ने में मन नहीं लगाते तो उनको विलायत भेजने का प्रस्ताव किया गया जिससे वे बैरिस्टरी या कोई अन्य उच्च परीक्षा पास कर लें। इंग्लैंड के विद्यालय में उन्होंने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया, जिससे वहाँ के प्रधानाचार्य संतुष्ट रहने लगे, पर उनका अधिक समय मिल्टन वायरन, टेनीसन, शैली आदि विख्यात अंग्रेजी कवियों की रचनाओं के अध्ययन में ही जाता था। उन्होंने उसी समय इस संबंध में कई लेख भी "भारती" में प्रकाशित कराये।

योरोप में जाकर रवींद्र नाथ ने अपना समय केवल कॉलेज के भीतर ही नहीं लगाया वरन् वहाँ के सामाजिक और सार्वजनिक जीवन पर भी निगाह डालते और अपने देश के साथ उसकी तुलना करते रहते रहे। यह सन् १८७६-८० की बात है, जब भारतवर्ष का विदेशी संस्कृति से संपर्क होना आरंभ हुआ था। इस विषय में उन्होंने अपने अनुभव का वर्णन करते हुए लिखा—

"योरोप की भूमि में यह मेरा पहला ही चरण है। आप तो जानते ही हैं कि मैं कैसा कल्पनाशील हूँ। मैंने सोचा था कि वहाँ पहुँचते ही एक अपूर्व दृश्य मेरी आँखों को आकर्षित करेगा। परंतु जैसा मैं लड़कपन से देखता चला आ रहा हूँ, कल्पना और

वास्तविकता में प्रायः मेल नहीं होता। इस नवीन देश में आने से पहले मैंने उसे जिस नये रूप में सोच रखा था वह बात देखने में न आई। इंग्लैंड आने पर सबसे अधिक मैंने क्या देखा ? लोगों में व्यस्तता का भाव। जो लोग रास्ते में चलते हैं, उनका मुँह देखने में बड़ा मजा आता है। बगल में छड़ी लेकर "हुश-हुश" करते वे चला करते हैं। आस-पास के आदमियों के ऊपर उनकी दृष्टि जरा भी नहीं पड़ती। उनके मुँह पर एक घबराहट-सी झलकती रहती है। वे हृदय से यही प्रयत्न करते हैं कि कहीं उनका समय व्यर्थ न बीत जाए। इस देश के लोगों का स्वभाव "दुलारा लड़का" बनने का नहीं है और न आराम से गद्दी पर पड़े रहना किसी को अच्छा लगता है।"

जब वे पेरिस गये तो वहाँ का आडंबर पूर्ण जीवन उनको बड़ा अटपटा जान पड़ा। उन्होंने लिखा—"यह एक सुहावना नगर है। मालूम पड़ता है, मानों यहाँ कोई मनुष्य निर्धन है ही नहीं। मैंने सोचा कि तीन हाथ के मनुष्य के लिए इतने बड़े और सुसज्जित मकानों की क्या आवश्यकता है ? मैं एक होटल में जाकर ठहरा। उसके सभी कमरे इतने बड़े थे कि ढीला कपड़ा पहिनने में जैसी असुविधा होती है, वैसी ही असुविधा मुझे इस होटल में जान पड़ने लगी। उस मकान में विस्तार का कोई ठिकाना न था। फाटक, दालान, बगीचा, अटारी, पत्थर के मार्ग, गाड़ी-घोड़ा और आदमियों का कोलाहल देखकर मैं दंग रह गया।"

महाकवि रवींद्र भारत के शांत वातावरण के अभ्यस्त थे। एक कवि के रूप में उनको प्रकृति की गोद में एकांत चिंतन और मनन प्रिय था। इसलिए ऐसे व्यस्तता और हलचलपूर्ण स्थान अगर उनको अपनी रुचि के प्रतिकूल प्रतीत हों तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर भी हम जीवन के किसी एक पक्ष का ही अधिकाधिक विकसित होते रहना प्रशंसनीय नहीं समझते। योरोप वालों की उद्योगशीलता निस्संदेह अनुकरणीय है, इसी से वे संसार में अपनी प्रधानता स्थापित करने में सफल हुए हैं। भारतवासियों में इस गुण की कमी है। प्रकृति के उदार और चित्तवृत्ति में संतोषी होने से वे प्रायः आलस्य

और शिथिलता का जीवन व्यतीत करने लग जाते हैं। इस दृष्टि से योरोप वालों से वे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

पर उस उद्योग के परिणाम को अधिकतर शान-शौकत और बाह्य आडंबर में व्यय कर देने के हम पक्षपाती नहीं। मनुष्य यदि अधिक उपार्जन कर सकता है तो यह आवश्यक नहीं कि वह अधिक उपभोग भी करे। अगर भगवान् ने हमको अधिक योग्यता और कार्यशक्ति दी है तो उसका लाभ कम विकसित शक्ति वाले अन्य मानवों की प्रगति में ही किया जाना चाहिये। यद्यपि रवि बाबू को शाही होटल में दो-चार दिन ठहरने से वहाँ कोई निर्धन न दिखाई दिया, पर हम जानते हैं कि पेरिस और लंदन जैसे महानगरों के भीतर और आस-पास लाखों व्यक्ति ऐसे रहते हैं, जिनका जीवन अभावग्रस्त होता है और जिनके बच्चे को भरपेट भोजन और पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलते। अगर व्यक्ति और समाज की समृद्धि बढ़ती है तो उसका उपयोग सबसे पहले समाज के इस दुर्भाग्यग्रस्त समुदाय की दशा सुधारने में ही किया जाना चाहिये।

हमारे देश में तो स्थिति और भी भयंकर पाई जाती है। यहाँ किसी भी जगह भूखे और नंगों की टोलियाँ देखी जा सकती हैं। गरीब बालकों को ठंड से ठिठुरने पर भी सामान्य वस्त्र नहीं मिलते। आहार में पौष्टिक तत्त्वों का अभाव रहता है। घर के नाम पर उनको टूटे-फूटे और अस्वास्थ्यकर झोंपड़ों में रहना पड़ता है। कहीं-कहीं पर नये-नये मकान और कोठियाँ खड़ी हो जाती हैं। वे ब्याह शादियों में लाखें रुपया फूँक देते हैं। यह स्थिति अवश्य ही बदली जानी चाहिए, तभी हम सच्ची प्रगति के दर्शन कर सकेंगे।

बैलगाड़ी द्वारा देश-भ्रमण—

पर रवि बाबू गरीबों की उपर्युक्त स्थिति से अनजान नहीं थे और अपनी विशाल सहृदयता के कारण उनकी हर तरह से सहायता करने को प्रस्तुत रहते थे। जब कभी ऐसा अवसर आ जाता था, वे किसी तरह के हानि-लाभ की चिंता छोड़कर कर्म-क्षेत्र में खड़े हो जाते थे। जब वे बिलायत से भारत वर्ष लौट आए, तो देश के गरीबों की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए कलकत्ते से पेशावर तक

बैलगाड़ी में यात्रा करने का निश्चय किया। इस यात्रा का वर्णन करते हुए उनके एक जीवन चरित्र में कहा गया है—

"मार्ग में उनको अनगिनत गाँव और दीन कृषकों की झोंपड़ियाँ देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने देखा कि तरह-तरह के कष्टों में फटे-पुराने चिथड़े लपेटे हुए उनका जीवन व्यतीत होता है। गरीबों की दुर्दशा देखकर उनका चित्त दुःखी हो गया। वे सोचने लगे कि पंखों के नीचे सोने वाले अमीरों को क्या पता है कि गरीबी कैसी होती है ? इन दृश्यों को देखकर जो विचार-मंथन हुआ उससे इन लोगों की दशा सुधारने के कितने ही उपाय उनको सूझे। जैसे कि ग्रामों में पंचायतें बननी चाहिये, जो अपने गाँव के सुख-दुःख को समझकर उचित प्रबंध कर सकें। वायु रहित तंग कोठरियों में पशुओं के साथ बेढंगा जीवन व्यतीत करने वाले किसानों की अवस्था को महलों में निवास करने वाले धनी किस प्रकार समझ सकते हैं ? वे तो गरीबों का खून चूसना और खस की टट्टियों में आराम से रहना जानते हैं। उन्होंने देखा कि ग्रामों में सुरक्षा का बड़ा अभाव है। पेट पालने के लिए छोटी अवस्था में ही बालकों की मजदूरी करनी पड़ती है। धनाभाव से वे प्रायः अशिक्षित रह जाते हैं।" इस प्रकार समस्त देश के किसानों की दशा को स्वयं देखकर उन्होंने अपनी रचनाओं में उसका यथार्थ चित्रण किया, जिससे शिक्षित देशवासियों की आँखें खुल गईं। उन्होंने इन आवश्यकताओं की तरफ सरकार का भी ध्यान आकर्षित किया, जिसके फलस्वरूप अनेक गाँवों में विद्यालय स्थापित किये गये और किसानों के लिए नहर तथा कुँओं द्वारा सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि की गई।

इस प्रकार रवींद्र नाथ ने एक ऐसा कार्य संपन्न किया जिसे प्राचीन समय से सभी संत-महात्मा करते आये हैं। भारतवर्ष में तीर्थ-यात्रा की सार्वजनिक प्रणाली पाई जाती है और संत-महात्माओं के लिए तो यह एक आवश्यक नियम माना गया है कि वे एक बार 'चारों धाम' की यात्रा कर आयें। इसका आशय यही है कि वे एक बार समस्त देश का भ्रमण करके समाज की दशा की अच्छी जानकारी प्राप्त कर लें और फिर अपनी शक्ति और साधनों के

अनुसार उसकी प्रगति के मार्ग सोचें और तदनुसार कार्य करें। शंकराचार्य, चैतन्य, नानक, नामदेव, ज्ञानेश्वर, गोस्वामी तुलसीदास, समर्थगुरु रामदास, तुकाराम आदि धर्म तथा समाज के सभी प्रमुख सूत्रधारों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया था। उस युग में यात्रा के साधन बहुत अल्प और श्रम साध्य थे। इसलिए इन सब ने साधु रूप से पैदल ही यात्रा की थी।

रवींद्र नाथ ने भी देश-समाज की दशा का अध्ययन करने के लिए वही मार्ग अपनाया। उस समय रेलगाड़ी चल निकली थी, पर रेल-यात्रा से पिछड़े हुए गाँवों और भूखे-नंगे कृषकों की अवस्था का पता लग सकता है ? वर्तमान परिस्थिति और अपनी सामाजिक स्थिति के कारण रवींद्र नाथ पैदल यात्रा नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने इसी से मिलता-जुलता साधन बैलगाड़ी द्वारा यात्रा करने का अपनाया। इससे उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया वह निस्संदेह अमूल्य था और यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रकार वे समाज की अच्छी सेवा कर सकें। आज भी मोटरों में यात्रा करने वाले 'नेता' अगर एकाध वर्ष इस प्रकार पैदल या बैलगाड़ी द्वारा देश भ्रमण करके अपने ज्ञान को परिपक्व कर लिया करें, तो वे वर्तमान समय की अपेक्षा बहुत अधिक ठोस सेवा कर सकने में समर्थ हो सकेंगे, इसमें संदेह नहीं।

"बंग-दर्शन" का प्रकाशन—

श्री बंकिमचंद्र चटर्जी द्वारा संचालित जिस 'बंग-दर्शन' मासिक पत्र का ऊपर जिक्र किया जा चुका है, वह उनके देहांत के पश्चात् बंद हो गया था। रवींद्र नाथ ने उसके महत्त्व और आवश्यकता को समझकर सन् १९०१ में उसे पुनः प्रकाशित करना आरंभ किया। यह सत्साहित्य द्वारा सामाजिक प्रगति का एक प्रधान साधन तो था ही, पर रवि बाबू उसके माध्यम से राजनीतिक अन्याय के विरुद्ध भी आवाज उठाया करते थे। सन् १८९९ में दक्षिण अफ्रीका निवासी गोरों ने वहाँ की बोअर जाति का विध्वंस करना आरंभ किया। वे एशियाई जातियों के साथ भी बहुत हीनता का व्यवहार करते थे। रवि बाबू ने उस अवसर पर गोरों के इस स्वार्थ मूलक कार्य को घृणित

बतलाकर उसके विरोध में कई लेख 'बंगदर्शन' में लिखे थे। इसी मासिक पत्र में महाकवि की कितनी ही रचनाएँ क्रमशः प्रकाशित हुईं थीं। इन्हीं रचनाओं में से एक 'चोखेरवाली' है जिसका अनुवाद हिंदी में 'आँख की किरकिरी' के नाम से हो चुका है। इस उपन्यास ने बंगला साहित्य में एक नया आदर्श उपस्थित किया। इससे पहले अधिकांश उपन्यास घटना प्रधान होते थे, पर इसमें बहुत कम घटनाएँ देकर मनोविश्लेषण और अंतर्द्वंद्व को प्रधानता दी गई थी।

साहित्य भी सामाजिक जागृति और सुधार का बहुत बड़ा माध्यम है। जो लोग इसे केवल मनोरंजन या दिमागी ऐयाशी का साधन मानते हैं, वे इसके वास्तविक महत्त्व से अनजान हैं। वे 'रसज्ञ व्यक्तियों' और राजा-रईसों के प्रशंसक माने जा सकते हैं, पर सच्चे साहित्यिकों में उनकी गणना नहीं हो सकती। साहित्य का पहला लक्षण लोक-कल्याण है। जिस रचना से समाज या व्यक्तियों को किसी प्रकार की उच्च प्रेरणा प्राप्त नहीं होती और वे अपने अन्य अभावग्रस्त बंधुओं और समाज की सेवा के लिए उद्यत नहीं हो जाते, उसे 'सत्साहित्य' नहीं कहा जा सकता।

रवि बाबू की समस्त साहित्यिक कृतियाँ, चाहे वे कविता हों या उपन्यास, कहानी, निबंध आदि, इसी उद्देश्य से लिखी गई हैं कि उनसे मनुष्यों का मानसिक स्तर उच्च हो और वे निम्न प्रवृत्तियों को त्यागकर समाज के उपयोगी सदस्य बन सकें। उनकी "जन-गन-मन अधिनायक" वाली कविता तो देशप्रेम की सच्ची अनुभूति का भंडार होने के कारण राष्ट्रीय गीत के रूप में स्वीकार कर ली गई है। 'अंतर मम विकसित कर हे' शीर्षक कविता महात्मा गाँधी के आश्रम में प्रार्थना के समय नित्यप्रति गाई जाती थी। उसमें अध्यात्म भावना को थोड़े से शब्दों में इतने प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त किया गया है कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार उनके उपन्यास सामाजिक कुरीतियों तथा मानवीय त्रुटियों को दूर करके उच्च जीवन मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने वाले हैं। भारतीय साहित्यिकों के लिए महाकवि रवींद्रनाथ निश्चय ही आदर्श स्वरूप हैं।

स्वदेशी समाज की स्थापना—

सन् १९०५ का वर्ष बंगाल के लिए ही नहीं समस्त भारत के लिए एक नवीन युग के प्रवेश द्वार के समान था। उस समय देश पर लार्ड कर्जन का कूटनीतिपूर्ण शासन चल रहा था। वे जब से भारत के वाइसराय बनकर आये थे, बराबर जन-जागृति को दबाने की तरकीबें कर रहे थे। भारतवासियों की स्वाधीनता की भावनाओं से उनको चिढ़ थी। इसलिये उन्होंन अंतिम प्रहार यह किया कि १६ अक्टूबर १९०५ को बंगाल को दो भागों में बाँटने की आज्ञा दे दी। बंगाल के नेता इसका विरोध आरंभ से ही कर रहे थे और श्री रवींद्र ने सन् १९०४ में ही इसका प्रतिकार करने के लिये एक 'स्वदेशी-समाज' की स्थापना कर दी थी। इसके सदस्य प्रतिज्ञा करते थे कि वे स्वदेशी वस्तुओं का ही प्रयोग करेंगे। इतना ही नहीं, शिक्षा, दीक्षा, साहित्य, समाज आदि सभी विषयों में 'निजत्व' की भावना को ही प्रधानता देंगे।

यह संस्था बहुत शीघ्र सुदृढ़ होकर समस्त प्रांत में फैल गई और हजारों व्यक्ति उसमें सम्मिलित होने लगे। पर जब 'बंग-भंग' के विरुद्ध किया गया सब आंदोलन, विरोध और प्रार्थनाएँ आदि असफल सिद्ध हो गये तो लोगों ने १६ अक्टूबर को सरकारी आदेश के प्रचारित होते ही भारत की राजधानी कलकत्ता में एक विशाल जलूस निकाला, जिसके प्रधान संचालक महाकवि श्री रवींद्र ही थे। वह जलूस महाकवि का "विधिर बंधन काटिवे तुमि एमनि शक्तिमान" (क्या तुम ऐसे शक्तिशाली हो कि विधाता द्वारा निर्मित संबंध का भी विच्छेद कर दोगे ?) गीत गाता हुआ समस्त नगर में घुमा और लाखों व्यक्तियों ने गंगा स्नान करके परस्पर राखी बाँधकर यह प्रतिज्ञा की कि ऐसे अन्यायपूर्ण आदेश को कदापि स्वीकार न किया जायेगा।

स्वदेशी की भावना ने थोड़े ही समय में इतनी जड़ जमा ली कि देश का वस्त्र-व्यवसाय और अनेकों उद्योग-धंधे पनपने लग गये और विलायती माल का आयात दिन पर दिन कम होने लगा। स्वदेशी स्कूल, स्वदेशी कॉलेज, स्वदेशी बैंक, स्वदेशी नेशनल फंड

आदि की धूम मच गई और लोगों में स्वाधीनता की एक नई ही भावना फूट पड़ी। अंग्रेज अधिकारियों ने तो यह कार्य भारतवासियों में फूट उत्पन्न करके उन्हें निर्बल बनाने के उद्देश्य से किया था पर परिणाम उलटा निकला। उसी दिन से जनता में जो नई चेतना उत्पन्न हुई और राजनैतिक आंदोलन छेड़ा गया, वह अंत में भारत को विदेशियों के पंजे से मुक्त करा के ही समाप्त हुआ।

वास्तव में 'स्वदेशी' मंत्र केवल किसी सामयिक आंदोलन से संबंधित नहीं, वरन् यह मानव-जीवन को सुखी बनाने का राजमार्ग है। इसका असली तात्पर्य है—स्वावलंबी होना। जो लोग इसे संकीर्णता का चिह्न समझते हैं या इसका आधार किसी से द्वेष करना मानते हैं, वे भूलते है। 'स्वदेशी' का अर्थ है जीवन को सरल तथा आडंबरशून्य बनाना। हम अपने जीवन-निर्वाह की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जितनी कम पराश्रित होंगे उतना ही हमारा जीवन सुखी हो सकता है। जो लोग प्रातःकाल उठते ही अपने नाश्ते के लिए दिल्ली की बनी डबल रोटी और डेनमार्क से आया मक्खन चाहते हैं और उसी के अभ्यस्त हो गये हैं, उनको समय-समय पर असुविधा उठानी पड़े तो क्या आश्चर्य ? जो ग्रामीण अपने घर में तैयार होने वाली मोटी रोटी और छाछ को खाकर खेतों में परिश्रम करने को चल देता है, उसके लिये वैसा अवसर कदाचित् ही कभी आये।

महात्मा गांधी ने इसी सिद्धांत को समझकर लोगों से 'खद्दर' व्यवहार की प्रतिज्ञा करने को कहा था। उनका आशय यही था कि जीवन की दो सबसे बड़ी और दैनिक आवश्यकताएँ—भोजन और वस्त्र के संबंध में मनुष्य पूर्ण स्वावलंबी हो सके तो उसके कष्टों तथा परेशानियों का बहुत कुछ अंत हो सकता है। हम जानते हैं कि महात्मा जी का उपदेश, इस विषय में एक सर्वोच्च आदर्श की भाँति था और प्रत्येक व्यक्ति उसे पूरी तरह पालन नहीं कर सकता। तो भी एक मार्ग-दर्शन के रूप में उसे स्वीकार करना कल्याणकारी ही माना जायगा। लोकमान्य तिलक ने भी स्वदेशी की महिमा को बहुत पहले ही समझ लिया था और बीसवीं शताब्दी आरंभ होने से कई

वर्ष पूर्व पूना में स्वदेशी आंदोलन आरंभ किया था। इससे हम समझ सकते हैं कि भारत के मूर्धन्य विद्वानों तथा जन-नेताओं ने भारतीय जनता की आर्थिक अवस्था के सुधार के लिए आरंभ से ही स्वदेशी व्यवहार की प्रेरणा दी थी। महाकवि रवींद्र ने भी इस तथ्य को अपनी दिव्य दृष्टि से शीघ्र ही जान लिया था और भारतीय समाज को स्वावलंबी बनाने के लिए ही 'स्वदेशी-समाज' जैसी संस्था की कल्पना की थी। पर जब उसमें एक तीव्र आंदोलन का समावेश हो गया और उसने क्षणिक उग्रता तथा हिंसा का रूप ग्रहण कर लिया तो वे उस 'आंदोलन' से पृथक् हो गये, और उसका संचालन अन्य नेताओं के लिए छोड़ दिया। उनकी कवि-प्रकृति इसके अनुकूल न थी।

शांति निकेतन की स्थापना—

रवि बाबू का 'ठाकुर' वंश स्वयं एक बड़ी जमींदारी का मालिक था और उसकी देखभाल करने के लिए उनको युवावस्था से ही समय-समय पर अपने 'शैलाइदह' गाँ में रहना पड़ता था। यहीं से उनको ग्रामीण जीवन का परिचय हुआ और दरिद्रता की मूर्ति तथा अभावों के बीच ही पलने वाले किसानों की दुर्दशा अपनी आँखों से देखने को मिली। इस अनुभव से प्रभावित होकर उन्होंने जो पत्र अपने मित्रों तथा स्वजनों को लिखे थे, उनमें निरीह ग्रामीणों की दरिद्रता का बड़ा ही करुणाजनक चित्र खींचा गया है। उन्होंने एक ऐसे पत्र में लिखा था—

"वे भोले-भाले किसान ! वे ईश्वर के निस्सहाय शिशु ! मैं नहीं जानता था कि संपत्ति के समान वितरण वाला साम्यवादी सिद्धांत यहाँ व्यवहार में लाया जा सकता है या नहीं ? पर यदि ऐसा संभव नहीं हो सकता तो सचमुच यह बड़ा कठोर विधान है, और मानव उसके हाथों अत्यंत दुःखी और असहाय रह जाता है।"

पर श्री रवींद्र केवल कल्पना में उड़ने वाले कवि न थे। वह सहानुभूति के दिखावटी आँसू बहाकर ही अपने हृदय को स्वांत्वना देने वाले जीव नहीं थे। उन्होंने अपने इन 'अन्नदाताओं' की समस्या पर खूब विचार किया और निश्चय किया कि उनकी दुर्दशा का एक

बड़ा कारण उनकी अविद्या और अशिक्षा भी है। पर वर्तमान समय के स्कूल और कॉलेजों की खर्चीली और 'पुस्तकीय' शिक्षा न तो उनके लिए संभव है और न विशेष कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है।

बहुत कुछ विचार करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय किसानों की शिक्षा-समस्या को हल करने के लिए यहाँ ऋषियों की प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली ही फलप्रद हो सकती है, जिसमें कम से कम व्यय में व्यवहारिक ज्ञान प्रदान किया जाता था। उसमें गुरु और शिष्य एक-दूसरे के इतने अधिक निकट रहते हैं और उनके जीवन में ऐसा 'साम्य' पाया जाता है कि वे परस्पर सच्चे शुभचिंतक बने बिना रह ही नहीं सकते। उस प्रणाली की तुलना वर्तमान शहरी स्कूलों से नहीं की जा सकती, जहाँ 'गुरु और शिष्यों' का कुछ घंटों के लिए अनिश्चित मिलन हो जाता है और वे एक-दूसरे को प्रसन्नतादायक होने के बजाय 'भार स्वरूप' जान पड़ते हैं।

इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर उन्होंने शैलाइदह का निवास छोड़कर 'बोलपुर' को अपना केंद्र बनाया, जहाँ उनके पिता देवेंद्रनाथ ठाकुर ने बहुत वर्षों पहले एक 'साधना कुटीर' बनाई थी। यह एक एकांत स्थान है जहाँ की वन-सुषमा और प्राकृतिक जलाशय आदि मनुष्य को आधुनिक कृत्रिमता से दूर ले जाते हैं। यही पर उन्होंने सन् १६०१ के लगभग दो छात्र और दो अध्यापकों को लेकर इस संस्था का श्रीगणेश किया। अनेक लोग तो इसे "नाम बड़ा और दर्शन थोड़ा" वाला मामला समझकर हँसी करने लगे, पर श्री रवींद्र और उनकी सहधर्मिणी मृणालिनी देवी उसकी अवस्था में आंतरिक निष्ठा से लगे हुए थे। कुछ ही समय में छात्रों की संख्या यथेष्ट हो गई और कार्यभार तथा अर्थव्यय भी काफी बढ़ गया। रवि बाबू को जो कुछ रुपया घर से मिलता था उसका एक बड़ा अंश इसी में लग जाता था, फिर भी खर्च पूरा नहीं पड़ता था। तब मृणालिनी देवी ने अपने आभूषण बेचकर उसका खर्च चलाया और जब उससे भी काम न चला तो श्री रवींद्र ने अपना एक निजी मकान और बहुत-सी पुस्तकें बेच डालीं। इस प्रकार दृढ़ संकल्प करके उन्होंने इस संस्था को चलाया। बीच-बीच में इस पर कठिन अर्थ-संकट आते रहे

जिनका निवारण महाकवि ने अपूर्व कर्मवीरता और परिश्रम से किया, और लोगों को दिखा दिया वे कोरे कवि ही नहीं हैं, वरन् भगवान् कृष्ण के अनुयायी एक सच्चे 'कर्मयोगी' भी हैं।

सच पूछा जाय तो महाकवि ने अपना सर्वस्व इसी संस्था को अर्पित कर दिया। अपनी अपार योग्यता और विश्वव्यापी ख्याति के द्वारा 'नोबल पुरस्कार' और अन्य देशों के भ्रमण आदि से जितना भी धन प्राप्त हुआ, वह सब उसी में लगाया गया। समय आने पर इसी संस्था के अंतर्गत 'विश्व भारती' का निर्माण किया गया। उसमें विदेशों के शिक्षार्थी उसी प्रकार आकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करने लगे जिस प्रकार प्राचीन काल में तक्षशिला और नालंदा आदि के विद्यालयों में संसार भर के विद्यार्थी आकर भारतीय ज्ञानामृत से अपनी आत्मा को परिपुष्ट करते थे। पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस संस्था के संबंध में ठीक ही कहा था—"जिसने शांति निकेतन को नहीं देखा उसने हिंदुस्तान को ही नहीं देखा।"

विश्व-भ्रमण और भारतीय संस्कृति का प्रचार—

महाकवि रवींद्रनाथ ने अपनी रचनाओं द्वारा संसार में भारतीय संस्कृति का जो मान बढ़ाया वह भी उनकी एक महत्त्वपूर्ण सेवा है। अंग्रेजों ने हमारे देश को अपने अधीन करके केवल उसका आर्थिक शोषण ही नहीं किया था, वरन् वे उसकी सभ्यता तथा संस्कृति को अत्यंत हीन साबित करके संसार को यह भी बतलाना चाहते थे कि भारत-शासन करके इन लोगों का 'सभ्य' बना रहे हैं। पर जिस समय महाकवि डेनमार्क की 'सहकारी शिक्षण पद्धति' का अध्ययन करने के उद्देश्य से इंग्लैंड पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपनी 'गीतांजलि' की कुछ कविताओं का अनुवाद श्रेष्ठ अंग्रेज साहित्यकारों और कलाकारों को सुनाया, तो विद्वानों में उनके नाम की धूम मच गई। तत्कालीन प्रसिद्ध अंग्रेज कवि यीट्स के आग्रह पर "इंडिया सोसाइटी" ने "गीतांजलि" का अंग्रेजी अनुवाद पुस्तकाकार सन् १९१२ में प्रकाशित किया। उसके आध्यात्मिक भावों की उच्चता और काव्य-सौंदर्य से लोग इतने आकर्षित हुए कि सैकड़ों उनके दर्शनों को आने लगे और जगह-जगह उनके सम्मान में समारोह होने लगे।

"गीतांजलि" का सारांश एक लेखक के शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

"गीतांजलि" में वैष्णव कवियों की प्रेम-भावना का अनुपम परिचय दिया गया है। साथ ही उसमें उपनिषदों के सर्वोच्च आध्यात्मिक विचारों का भी बड़ी मार्मिकता से समावेश है। कवि का यह अनूठा ग्रंथ आध्यात्मिक गगन पर ज्ञान-सूर्य बनकर उदित हुआ है, जिसकी निर्मल ज्योति का प्रकाश समस्त विश्व का हृदय आलोकित कर रहा है। कवि लिखता है—प्रभु की निकटता पाने के लिये बाह्य जप-तप-योग और वैराग्य की आवश्यकता नहीं। वह तो हृदय में स्पष्ट रूप से बैठा हुआ है और हम प्रत्येक क्षण उसके स्पर्श का अनुभव करके पुलकित हुआ करते हैं। कवि उस 'जीवन देवता' को संसार में सभी ओर देखता है। इसी उद्देश्य से सब प्रकार के पापों और कुकर्मों से बचकर रहना चाहता है, जिससे उसका शरीर भगवद्-स्पर्श योग्य रह सके। कवि को मृत्यु भी एक शत्रु की तरह नहीं, वरन् मित्र जान पड़ती है। एक गीत में वह कहता है—मृत्यु दयामयी जननी है। जिस प्रकार माता बच्चे के मुँह से अपना एक स्तन छुड़ा लेती है, तो वह दूसरा स्तन पाने के विश्वास से आश्वस्त रहता है, उसी प्रकार मृत्यु मानवरूपी शिशु को एक रिक्त जीवन से हटाकर दूसरे परिपूर्ण जीवन में प्रविष्ट कराती है।"

इंग्लैंड से महाकवि अमेरिका गये। वहाँ भी उनका अपूर्व सम्मान हुआ और सैकड़ों संस्थाओं ने उनको भाषण के लिए निमंत्रित किया। योरोप और अमेरिका में उन्होंने भारतीय ज्ञान को श्रेष्ठ और कमनीय रूप में प्रकट किया, उससे हमारे देश का सम्मान बहुत बढ़ गया। वहाँ के निवासी कहने लगे कि जिस देश में रवींद्रनाथ के समान विचारक और विद्वान् उत्पन्न हो सकते हैं, उसे असभ्य और असंस्कृत कैसे कहा जा सकता है ? उन्होंने समझ लिया कि भारत के विरुद्ध प्रचार करना अंग्रेज शासकों की स्वार्थपूर्ण नीति का ही एक अंग है। वेद और उपनिषदों के अध्यात्म-ज्ञान के प्रणेता, जिसका परिचय रवींद्रनाथ अपनी कविताओं में दे रहे हैं, कभी असभ्य नहीं हो सकते।

अमेरिका में महाकवि का जो अभूतपूर्व स्वागत-सम्मान हुआ, उसका बढ़ा-चढ़ा सचित्र वर्णन वहाँ के पत्रों में प्रकाशित होने से योरोप के अन्य देश वालों में भी उनके संबंध में उत्सुकता पैदा हो गई और जगह-जगह से उनके पास निमंत्रण आने लगे। इसलिए कुछ समय पश्चात् दुबारा उनको योरोप यात्रा करनी पड़ी थी। डेनमार्क जाने का विचार तो वे बहुत पहले कर चुके थे। वहाँ की राजधानी कोपेनहेगेन में हजारों नगर निवासी उनके स्वागतार्थ आये। विश्वविद्यालय में उनका भाषण ऐसा पसंद किया गया कि हजारों लड़कों और नागरिकों ने उनका जलूस जलती हुई मशालों के साथ निकाला और इस प्रकार भारत की दार्शनिक और धार्मिक विचारधारा का हार्दिक सम्मान किया। स्वीडेन में भी उनका ऐसा ही सम्मान किया गया। वहाँ के जलूस में सबसे आगे उस देश के लाट-पादरी (प्रधान धर्मगुरु) चल रहे थे। इतना सम्मान वहाँ किसी विदेशी विद्वान् का कम ही देखने में आया था।

जर्मनी वालों को तो आर्य संस्कृति पर विशेष अभिमान है और वेदों का सबसे अधिक प्रचार उसी देश में हुआ है। वहाँ के विश्वविद्यालय में रवींद्रनाथ का दर्शन करने और भाषण सुनने इतनी अधिक भीड़ हो गई कि सभा-भवन का हॉल ही नहीं, बरामदा और सीढ़ियाँ भी जन-समूह से भर गईं। दरवाजे और सीढ़ियों पर जन-समूह की अधिकता के कारण स्वयं महाकवि का सभा-मंच तक पहुँचना कठिन हो गया। उनके संबंध में लोगों ने जो बातें सुन रखी थीं उससे वे यही समझ रहे थ कि रवि बाबू भगवान् ईसा मसीह के सदृश ही हैं और वास्तव में योरोप में महाकवि को एड़ियों तक लंबे लबादे, सफेद दाढ़ी और सफेद सर के बालों ने एक ईसाई संत के रूप में ही परिवर्तित कर दिया था। जब वहाँ से कोई दर्शक हटने को राजी न हुआ तब एक अध्यापक बहुत से लड़कों को लेकर बाहर चले आये और बाहरी दर्शकों को अपना स्थान देकर रास्ता साफ कराया। इस पर लड़के निराशा प्रकट करने लगे। महाकवि ने कहा—"तुम लोग खेद मत करो, कल मैं तुमसे अलग बातचीत करूँगा।" उस सभा में चौदह-पंद्रह हजार दर्शक इकट्ठे हो गये थे।

जर्मनी में रवि बाबू की पुस्तकों का भी बड़ा आदर हुआ। तीन सप्ताह के भीतर उनकी एक पुस्तक की पचास हजार प्रतियाँ बिक गईं।

फ्रांस वालों ने भी स्वागत में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी। वहाँ के अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक संप्रदाय के अनुयायी हैं, जो भारतवर्ष के भक्ति-मार्ग से मिलता-जुलता है। महाकवि रवींद्र की पोशाक तथा आकृति पुराने ढंग के पादरियों से मिलती-जुलती जान पड़ती थी। इसलिए कितने ही लोग तो भक्तिपूर्वक झुककर उसके लबादे का किनारा चूमते थे और ताली पीट-पीटकर प्रसन्नता का भाव प्रकट करते थे।

महाकवि जहाँ कहीं गये उन्होंने भारतीय अध्यात्म पर आधारित समानता तथा प्रेम का संदेश ही दिया—"हम सब भाई-भाई हैं। अमीर-गरीब का भेद निरर्थक है। मनुष्य-मनुष्य में कोई अंतर नहीं। भाई के साथ द्वेष करना अथवा लड़ना धर्म नहीं है। सबसे प्रेम करना ही मानवता का सार है। प्रेम व भाईचारे का व्यवहार संसार का सबसे बड़ा सिद्धांत है।"

नोबुल पुरस्कार की प्राप्ति—

योरोप के स्वीडेन देश में अलफ्रेड नोबल नाम के एक बहुत बड़े उद्योगपति हो गये हैं, जिन्होंने अपनी संपत्ति का एक बहुत बड़ा भाग संसार के विद्वानों, वैज्ञानिकों और शांति प्रचारकों को पुरस्कार देने के लिए अर्जित कर दिया था, उसी संस्था की तरफ से प्रति वर्ष एक लाख बीस हजार रुपये का एक पुरस्कार संसार के किसी भी देश के ऐसे साहित्यकार को दिया जाता है, जिसकी रचना एक निर्णायक समिति द्वारा सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर ली जाए। सन् १९१३ में जब महाकवि योरोप की यात्रा करके वापस आये तो कुछ ही सप्ताह में समाचार आया कि इस वर्ष का नोबुल पुरस्कार उनकी पुस्तक 'गीतांजलि' पर देने का निश्चय किया गया है। इस समाचार से समस्त भारत में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। यह महाकवि की विद्वता और प्रतिभा का तो आदर था ही, पर लोगों ने इसे एक राष्ट्रीय सम्मान भी समझा। महाकवि के सम्मान में यहाँ भी बड़ा समारोह किया गया। उस वर्ष लाट साहब की कोठी पर एक बड़ा

दरबार हुआ तो उसी अवसर पर नोबल पुरस्कार और एक तमगा उन्होंने अपने हाथ महाकवि को प्रदान किया ।

संस्कृत भाषा एक सुभाषित है कि "धनवान् अथवा राजा तो अपने देश में ही पूजा जाता है, पर विद्वान् सर्वत्र पूजनीय होता है।" यद्यपि उस समय भारतवर्ष पूर्ण रूप से अंग्रेजों के आधीन था और गोरी जातियाँ यहाँ के निवासियों को 'काला' कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखती थीं, पर उसी जाति का होने पर भी रवींद्रनाथ का सब जगह एक देवदूत अथवा राजा-महाराजाओं जैसा स्वागत किया गया। यह सब उनकी सरस्वती आराधना का ही परिणाम था। उन्होंने स्कूल-कॉलेजों की सदोष शिक्षा-पद्धति से विरक्त होकर अपना मार्ग स्वयं बनाया और अपने अध्यवसाय से अपने को शिक्षित और ज्ञान संपन्न बनाया और फिर इस ज्ञान-साधना से स्वयं कोई लाभ न उठाकर उसका लाभ पूरी तरह अपने देशवासियों को दिया।

कुछ समय पश्चात् भारत सरकार ने भी महाकवि के कार्य के महत्त्व को स्वीकार किया और उनको एक बहुत बड़ी पदवी प्रदान की। यह 'सर' अथवा 'नाइट' की पदवी सामान्यतः इंग्लैंड के रईसों और विशिष्ट देश-सेवकों को दी जाती है। वही उन दिनों भारत के दो-चार गिने-चुने विद्वानों को दी गई, जिनमें रवींद्र भी एक थे। बंगाल के गवर्नर स्वयं शांति निकेतन गये और महाकवि के पास कई दिन तक अतिथि के रूप में ठहरे रहे। पर यह स्थिति थोड़े ही समय तक रही, क्योंकि भारतवर्ष में अंग्रेजों की शासन-नीति के विरुद्ध आंदोलन चल रहा था और महाकवि को भी उससे पूरी सहानुभूति थी। वे भारतवासियों पर सरकारी अन्याय का खुलकर विरोध करते थे। जब रौलेट एक्ट के विरोध में आंदोलन छिड़ा और अमृतसर के 'जलियाँवाला बाग' की एक सार्वजनिक सभा में कई सौ व्यक्ति अंग्रेज जनरल डायर द्वारा मशीनगन से भून डाले गये, तो महाकवि ने भी उसका बड़ा विरोध किया और ऐसी सरकार से किसी प्रकार का संबंध रखना बुरा समझकर उसकी प्रदान की हुई 'सर' की पदवी को भी वापस कर दिया। इस अवसर पर भारत के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को उन्होंने एक लंबा पत्र लिखा जिसमें कहा गया था—

"हमारी आँखें खुल गईं हैं कि हमारी अवस्था कैसी असहाय है ? अभागी भारतीय जनता को इस समय जो दंड दिया गया है उसका उदाहरण किसी सभ्य सरकार के इतिहास में नहीं मिल सकता। पर हमारे शासक इस कृत्य के लिए उलटा अपने को शाबासी दे रहे हैं कि उन्होंने भारतवासियों को 'अच्छा सबक' सिखा दिया है। अधिकांश अधगोरे (ऐंलो इंडियन) समाचार पत्रों ने इस निर्दयता की प्रशंसा की है और उनमें से कुछ ने तो पाशविकता की सीमा पर पहुँचकर हमारी यातनाओं का उपहास भी किया है। सरकारी अधिकारियों ने उन समाचार पत्रों पर तो किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया, उलटा जनता के साथ सहानुभूति रखने वाले भारतीय समाचार-पत्रों का ही गला दबाया। इस अवसर पर मैं कम से कम इतना तो कर ही सकता हूँ कि भारी से भारी दुष्परिणाम भोगने के लिये तैयार होकर अपने उन करोड़ों देशवासियों की विरोध भावना को व्यक्त करूँ, जो आतंक और भय के कारण युपचाप सरकारी दमन सह रहे हैं। समय आ गया है कि जब सरकार द्वारा प्रदत्त 'सम्मान के पट्टे (पदवियाँ) राष्ट्रीय अपमान के साथ मेल नहीं खा सकते। वे हमारी निर्लज्जता को और भी चमका देता है। अतएव मैं विवश होकर सादर प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे सम्राट् द्वारा दी गई 'नाइट' की उपाधि से मुक्त कर दें।"

इस प्रकार महाकवि ने यह दिखला दिया कि जहाँ मानवता और राष्ट्रीयता का प्रश्न उपस्थित हो, वहाँ प्रत्येक क्षेत्र के व्यक्ति को आगे बढ़कर उसके विरोध में अपना दायित्व निभाना चाहिये। यद्यपि एक उच्चकोटि के कवि का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक होता है और वह मानव मात्र को एक ही परमपिता की संतान मानकर सबको सम दृष्टि से ही देखता है, पर जब लोगों का एक समुदाय दूसरे समुदाय के साथ अमानवीय व्यवहार करे तो कवि का भी यह धर्म हो जाता कि वह अन्याय के विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा करे। यद्यपि अपनी वृद्धावस्था और शांत प्रकृति के कारण अंग्रेजों के विरुद्ध उग्र आंदोलन में पूरी तरह भाग ले सकने में समर्थ नहीं थे, तो भी उन्होंने ब्रिटिश सम्राट द्वारा प्रदान की हुई इतनी बड़ी पदवी को ठुकराकर

दंड के लिये प्रस्तुत होकर अपना असंतोष अच्छी तरह प्रकट कर दिया। यह प्रत्येक स्वाभिमानी व्यक्ति का कर्तव्य होना चाहिऐ। अन्याय के सम्मुख सिर झुकाना बहुत बड़ी हीनता और कायरता की निशानी है।

एशियाई देशों में सम्मान—

योरोप और अमेरिका के देशों में भ्रमण करने के पश्चात् महाकवि जापान, चीन, ईरान आदि एशियाई देशों में भी गये और वहाँ भी उनका राजसी स्वागत किया गया। जापान में वहाँ के एक बहुत बड़े राष्ट्र नेता ओकुमा ने उनकी प्रशंसा में जापानी भाषा में भाषण किया और रवि बाबू ने उसका उत्तर बंगला भाषा में दिया। जापान के विद्वानों ने महाकवि का बड़ा सम्मान किया। पर यहाँ भी उन्होंने अपनी न्यायप्रियता का परिचय दिया जिससे जापान—सरकार उनसे नाराज हो गई। बात यह थी कि उन दिनों अपने पड़ौसी चीन को निर्बल देखकर शक्तिशाली जापानी—सरकार उस पर कब्जा करने की योजना बना रही थी। महाकवि को यह 'दस्युवृत्ति' कब पसंद आ सकती थी ! अतएव उन्होंने जापान में बैठकर ही वहाँ के शासकों की इस स्वार्थपूर्ण नीति की भर्त्सना की। निरंकुश और अधिनायकवाद में विश्वास रखने वाले शासनकर्ताओं को यह बात कैसे सहन हो सकती थी ? फिर भी महाकवि ने उनकी चिंता न करके अपनी निष्पक्ष सम्मति प्रकट कर दी और उनके देश से अपेक्षाकृत शीघ्र ही चले आये।

कुछ समय पश्चात् पेकिंग विश्व विद्यालय के निमंत्रण पर चीन भी गये। रास्ते में बर्मा, सुमात्रा, बाली, जावा आदि में भी उनका स्वागत किया गया। चीन में तो उनका ऐसा स्वागत-समारोह किया गया जैसा राजा-महाराजाओं का ही किया जाता है। फौजी अफसर उनकी देखभाल करते थे। प्रत्येक स्टेशन पर इस बात की पूछताछ की जाती थी कि उनको किसी बात की असुविधा तो नहीं है। चीन के विद्यार्थियों के आग्रह पर महाकवि के सम्राट् के महल के पास ही ठहराया गया। चीन-सम्राट् ने-यद्यपि उस समय प्रजातंत्र स्थापित हो जाने से उन्हें शासन-भार से मुक्त कर दिया गया था—स्वयं अपने

महल में उनकी बड़ी खातिर की, घंटा भर तक बातचीत की और एक बहुत पुरानी बहुमूल्य तस्वीर उन्हें भेंट स्वरूप दी। पर महाकवि इस राज सम्मान को पाकर भी सामान्य जनता को नहीं भूले। उन्होंने सार्वजनिक सभा में कहा—"भाइयों ! मैं एक सामान्य कवि हूँ। पर मैं एक मनुष्य हूँ और उसी हैसियत से तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। मेरे हृदय में तुम सबके लिये ऊँचा स्थान है। तुमने भी मुझे बड़े प्रेम के साथ अपनाया है। इस प्रकार का प्रेम बराबर वालों में ही हो सकता है। मैं भी तुमसे बड़ा नहीं बराबर का ही हूँ।"

जिन दिनों महाकवि चीन में ठहरे थे, तभी उनकी वर्षगाँठ का अवसर आ गया। चीन वालों ने अपनी पद्धति के अनुसार समारोह मनाया और उनके लिये शानदार नीले रंग का पैजामा, नारंगी रंग का पीला, कुर्ता और बैजनी रंग की सुंदर टोपी तैयार की गई और लोगों के आग्रह से महाकवि को उस पोशाक को धारण करके उन्हें समारोह में भाग लेना पड़ा। वहाँ के लोग उनको अपने जातीय स्वरूप को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उनको 'चु-चेन-तांग' का नया नाम दिया जिसका अर्थ होता है "वज्र के समान शक्तिशाली भारत—सूर्य !"

ईरान भी प्राचीन काल से बड़े-बड़े कवियों की भूमि रही है। वहाँ के बादशाह ने स्वयं निमंत्रण भेजकर 'विश्व-कवि' का अपने यहाँ अपूर्व स्वागत किया। इटली पहुँचने पर वहाँ के तानाशाह मुसोलिनी ने कहा—"मैं आपकी रचनाओं को बड़े प्रेम से पढ़ता हूँ और मुझे वे पसंद आती हैं।" इटली में उनको सरकारी मेहमान की हैसियत से रखा गया और उसी तरह का सब इंतजाम किया गया जैसा अन्य देशों के बड़े शासकों या राजाओं के आने पर किया जाता है।

स्विट्जरलैंड का देश प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से योरोप का "नंदन कानन" माना जाता है। ऐसी भूमि कवियों के लिये स्वभावतः आकर्षक और प्रसन्नतादायक होती है। वहाँ की शोभा देखकर महाकवि बहुत प्रसन्न हुये और योरोप वालों को अपने संदेश देते हुए कहा—"भारत की सभ्यता बहुत पुरानी है। इसकी मिट्टी के

कण-कण में सत्य की भावना पाई जाती है। भारत ने ही उस समय योरोप को शिक्षित बनाया था, जिस समय योरोप के लोग आदिम अवस्था में थे और ज्ञान-विज्ञान से अपरिचित थे, उस समय भारत एक महान् और सभ्य देश था। वहाँ के निवासी जलयानों द्वारा दूर-दूर के देशों में गये और वहाँ अपनी शिक्षा व संस्कृति का प्रचार किया।"

महाकवि रूस भी गये, जहाँ की सभ्यता, संस्कृति अब एक नये ढाँचे में ढाली गई है। वहाँ अमीर-गरीब का भेद नहीं रखा गया है और सबको परिश्रम करके ही जीवन निर्वाह करना पड़ता है। वहाँ का शासन प्रबंध सामान्य जनता के प्रतिनिधि चलाते हैं। वहाँ पर सब प्रकार के उद्योग-धंधे तथा खेती सहकारी पद्धति पर चलाये जाते हैं जिनमें कोई एक व्यक्ति स्वामी नहीं होता। इस प्रकार की व्यवस्था को देखकर महाकवि बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने रूस की प्रशंसा में कितने ही पत्र लिखकर अपने इष्ट मित्रों और घर वालों को भेजे। जिस बात को वहाँ पर उन्होंने सबसे अधिक पसंद किया वह थी वहाँ के लोगों की बराबरी की भावना। कोई किसी को छोटा-बड़ा नहीं समझता था। हम भारतवासी भी मनुष्य मात्र को एक ही ईश्वर की संतान मानकर सबको बराबर बतलाते हैं। इतना ही नहीं, हमने इससे भी आगे बढ़कर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धांत की घोषणा की है। पर व्यवहार में हम इन "महान् सिद्धांतों" से प्रतिकूल ही चलते हैं। हम अपने ही समाज में एक अंग-अछूतों के साथ जैसा निकृष्ट व्यवहार करते हैं, उसकी तुलना संसार के किसी भी देश में नहीं मिलती। महाकवि रवींद्र ने इस त्रुटि को बहुत अच्छी तरह समझा और इसीलिये रूस का उदाहरण दिखलाकर हमको समता का व्यवहार अपनाने की प्रेरणा दी।

रवींद्र नाथ और गांधीजी :

महात्मा गांधी के साथ रवींद्र नाथ का बड़ा प्रेम था और इन दो महामानवों को निकट लाने का कार्य किया था तीसरे महामानव एंडरूज ने। एंडरूज साहब असली अंग्रेज थे और विलायत के ईसाई मिशन की नौकरी करके दिल्ली के एक क्रिश्चियन कॉलेज में पढ़ाने

आये थे। पर अंग्रेजों की अहम्मन्यता तथा भारतवासियों के प्रति उनका दुर्व्यवहार देखकर उनका हृदय बड़ा व्यथित हुआ और वे भारतवर्ष को उसका न्यायपूर्ण अधिकार दिलाने के समर्थक बन गए। वे ईसाइयों के कॉलेज की नौकरी छोड़कर महाकवि रवींद्र नाथ के शांति निकेतन में चले आये और भारतीय युवकों को शिक्षा देने के साथ ही आवश्यकता पड़ने पर यहाँ के राजनैतिक आंदोलन में भी भाग लेने लगे। महाकवि की अनुमति से वे महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन में सहायतार्थ दक्षिण अफ्रीका गये। रास्ते में उनको अन्य गोरे यात्रियों ने बहुत डराया कि तुमको दक्षिण अफरीका का शासन कर्ता जनरल स्मट जहाज से उतरते ही गिरफ्तार कर लेगा। पर मि० एंडरूज ने बातों की चिंता न करके दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह संग्राम में गांधी जी की बड़ी सहायता की और उनकी अधिकांश माँगों को स्वीकार कराके दोनों पक्षों में सुलह करादी। वे गांधी जी के पुत्रों को लेकर शांति निकेतन में वापस आये और जब गांधी जी अफ्रीका से भारत आये तो उनको भी शांति निकेतन में ठहराया। गांधी जी महाकवि को 'गुरुदेव' कहकर संबोधित करते थे और विद्या तथा आयु की दृष्टि से वे इस पदवी के योग्य भी थे। रवींद्र नाथ भी गांधी जी से अत्यंत प्रेम रखते थे। जब यरवदा जेल में गांधी जी ने सरकारी नीति के विरोध में आमरण अनशन किया तो महाकवि उनकी कुशलता के लिए चिंतित होकर स्वयं पूना गये और गांधी जी से मिलकर उनके छुटकारे के लिए विलायत की सरकार के पास तार भेजा, उनके प्रयत्न से दोनों में समझौता हो गया और गांधी जी ने अनशन छोड़ दिया। उस समय गांधी जी का स्वास्थ्य बड़ा नाजुक हो गया था और महाकवि बराबर उनके बिस्तर के पास बैठकर देख-भाल करते रहते थे। गांधी जी को रवींद्र नाथ का संगीत बहुत प्रिय था। अनशन छोड़ने के दिन उन्होंने महाकवि के मुख से ही एक सुंदर गीत सुना।

पर व्यक्तिगत रूप से ऐसा प्रगाढ़ प्रेम होने पर भी राजनीतिक आंदोलन के संबंध में दोनों में बहुत कुछ मतभेद भी रहता था। जब गांधी जी ने अपने आंदोलन का आधार अहिंसा को बनाया तो वह

उनको पसंद आया। पर जब उन्होंने असहयोग की घोषणा करके लड़कों को स्कूल और कॉलेज छोड़ने के लिये कहा, विलायती कपड़ों की होली जलाने का कार्यक्रम आरंभ किया तो महाकवि ने उसका विरोध किया। वे कहते थे कि इस प्रकार लड़कों को भड़काने से वे आवारा बन जायेंगे। वस्त्र बहिष्कार और चरखा के संबंध में वे कहते थे—'गांधी जी मशीनों के खिलाफ हैं, तो मेरी भी वही सम्मति है। पर हमारी बुराइयों की जड़तो भीतरी कमजोरी है। हम चलने, बोलने और हँसने में भी डरते हैं। अंग्रेज सरकार के हुक्म पर उठते-बैठते हैं। हमारी अपनी ताकत कुछ भी नहीं है। हम कायर हैं, सरकार से हर बात में डरते रहते हैं। इस जबर्दस्ती के मैं विरुद्ध हूँ। पर गांधीजी भी लोगों पर ऐसी ही जबर्दस्ती कर रहे हैं। वह देश को स्वतंत्र करना चाहते हैं, पर लोगों स्वतंत्र-विचारों पर वह हुक्म चला रहे हैं। इस तरह अगर हमको स्वतंत्रता मिल भी जायेगी, तो भी हम सच्चे अर्थों में स्वतंत्र न हो सकेंगे।"

'विश्व भारती' और 'श्री निकेतन' की स्थापना—

रवींद्र नाथ केवल कवि और कलाकार ही नहीं थे, वरन् जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, वे एक सच्चे कर्मयोगी भी थे। जहाँ वे एक ओर शांति निकेतन में बालकों और युवकों को विद्या, कला, ज्ञान की शिक्षा देतें थे, वहीं सन् १९१२ में ही उन्होंने शांति निकेतन से ३ मील पर बहुत-सी जमीन खरीदकर 'श्री निकेतन' की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य विद्यार्थियों को कृषि, उद्योग और व्यवसाय का व्यावहारिक प्रशिक्षण देना था। अब तक यहौ से हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करके सफलतापूर्वक देश की प्रगति में योगदान कर चुके हैं।

महाकवि ने योरोप, अमेरिका के विद्वानों और विश्वविद्यालयों के निमंत्रण पर उन देशों की आठ बार यात्रा की थी और वहाँ की प्रगति तथा परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। उन्होंने इस तथ्य को भली प्रकार समझ लिया कि जहाँ भारत को योरोप से पुरुषार्थ और भौतिक साधनों में प्रगति संबंधी शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता है, वहाँ योरोप भी भारत से अध्यात्म विषयक ज्ञान प्राप्त

करके अपनी स्थिति को सुदढ़ कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने 'विश्व भारती' की स्थापना की। इसका आदर्श-वाक्य (मोटो) रखा गया "विश्वं भवत्येकं नीडम्" अर्थात् "यहाँ सारे संसार को शरण मिल सकती है।"

सचमुच वर्तमान युग में विश्व की सबसे बड़ी समस्या यही है कि वह भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में समन्वय किस प्रकार करे ? अब तक विश्व की अधिकांश संस्कृतियों का विकास एकांगी हुआ है। कम से कम पिछले पाँच-सात सौ वर्षों से योरोप भौतिक साधनों और शक्ति को बढ़ाने में लगा हुआ है और एशिया के देश इस बीच में प्रायः प्रधानता के नाम पर आध्यात्मिक विषयों पर ऊहापोह में तल्लीन रहे। वास्तविक अध्यात्म तो बहुत उच्चकोटि का और चारों पुरुषार्थों को प्रदान करने वाला मार्ग है, पर जब मनुष्य केवल उसके सैद्धांतिक ढाँचे को ग्रहण कर लेता है और वास्तविक शक्ति से रहित होकर सांसारिक दृष्टि से उसका पतन हो जाता है और वह परमुखापेक्षी बन जाता है। इसी स्थिति को देखकर आज अधिकांश शिक्षित कहलाने वाले 'अध्यात्म' को एक निकम्मी चीज समझने लगे हैं और भारतवर्ष को ही इसका सबसे बड़ा उदाहरण बतलाते हैं।

महाकवि ने इस समस्या को अच्छी तरह समझा था और इसी को हल करने के लिए आदर्श के रूप में 'विश्व भारती' की स्थापना की थी। उनका उद्देश्य यही था कि जिस प्रकार योरोप, अमेरिका की कुछ संस्थाएँ भारतीय छात्रों को विज्ञान और आधुनिक कला-कौशल की शिक्षा दे रही हैं, उसी प्रकार भारत में भी कोई संस्था ऐसी होनी चाहिए, जहाँ सब देशों के ज्ञानाभिलाषी सम्मिलित हों और अध्यात्म के सिद्धांत और व्यवहार को जानने की सुविधा प्राप्त कर सकें। इसीलिये उन्होंने संसार भर के देशों का कई-कई बार भ्रमण करके वहाँ के विद्वानों तथा संस्थाओं से संबंध स्थापित किया और उनके तथा अपने विचारों के आदान-प्रदान की व्यवस्था की। इसके परिणाम स्वरूप वे 'विश्वभारती' का शिक्षाक्रम ऐसा आकर्षक और सर्वोपयोगी बना सके कि प्रत्येक देश और मजहब के विद्यार्थी उसमें अपनेपन की भावना को उपलब्ध करने लगे। इसी से

भारत के अनेक हिंदू-मुस्लिम शासकों, भारत सरकार, चीन सरकार, विदेशों के धनियों तथा संस्थाओं ने उसे सहायता और सहयोग दिया। उसमें संसार के सभी प्रमुख देशों के उच्च कोटि के साहित्य, इतिहास, धर्म और संस्कृति के अध्ययन की व्यवस्था है। इसमें उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही भाग लेते हैं। अन्य विद्यार्थियों के लिये 'शांति निकेतन' का शिक्षाक्रम इससे पृथक् है। वह प्रातःकालीन प्रार्थना से आरंभ होकर रात्रि में भी समस्त छात्रों के सामूहिक गायन से समाप्त होता है।

ज्ञान-यज्ञ के सर्वहुत होता—

जैसा पाठकों को अब तक के जीवन-वृतांत से प्रतीत हुआ होगा कि महाकवि रवींद्र संसार के उन इनेगिने मानव तनधारियों में से एक महान् आत्मा थे, जिनका जन्म किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही होता है। इसलिये वे संसार में चाहे धनवान् पदवी प्राप्त करके बड़े आदमी कहलायें, चाहे लंगोटी लगाकर और सूखी रोटी खाकर निर्धन अवस्था में रहे, पर वे कोई ऐसा महान् कार्य पूरा कर आते हैं, जिससे आगामी पीढ़ियाँ सैकड़ों वर्षों तक उनका गुणानुवाद करती रहती हैं। महाकवि रवींद्र वंशक्रम से उच्च पदस्थ और धनी व्यक्ति थे और तत्पश्चात् अपनी अप्रतिम योग्यता से भी उन्होंने बहुत-कुछ कमाया। उनकी लिखी पुस्तकों की बिक्री भी देश-विदेश में इतनी हो जाती थी कि उससे भी काफी आय होती थी। पर इस संपत्ति को उन्होंने "ज्ञान-यज्ञ" में समर्पित कर दिया।

उनका यह 'ज्ञान-यज्ञ' 'शांति निकेतन' और 'विश्वभारती' के रूप में था। यद्यपि इसमें रहने वालों का रहन-सहन बहुत सादा और सात्त्विकतापूर्ण था, तो भी जब उसका अधिक विस्तार हो गया और उसमें एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर की योग्यता के शिक्षकों रखने की आवश्यकता पड़ी तो उनके निजी साधन अपर्याप्त सिद्ध हुए। बाहरके धनिकों ने स्वेच्छा से जो सहायता दी, वह भी इस व्यय की पूर्ति न कर सकी। इस पर भी महाकवि ने हिम्मत नहीं हारी और वे बहुत-सा काम अपने हाथ से ही करके उसका संचालन करते रहे। अंतिम वर्षों में जब वे ८० वर्ष के लगभग हो चुके थे तो संस्था के

लिए धन का ऐसा अभाव हुआ कि उन्होंने नाटकों में अभिनय करके उसके लिये धन एकत्रित करने का निश्चय किया। तदनुसार वे अपनी शिष्य मंडली के साथ बाहर निकले और कई स्थानों में अभिनय किये। जब गांधी जी ने यह सुना कि महाकवि को इस अंतिम अवस्था में स्वास्थ्य के ठीक न होते हुए भी संस्था के व्यय-निर्वाह के लिये नगर-नगर भटकना पड़ रहा है, तो उन्होंने अपने एक धनिक अनुयायी को उनकी सहायता के लिए प्रेरणा दी और बंबई पहुँचते ही महाकवि को ६० हजार का एक चेक प्राप्त हो गया। व्यय की समस्या हल हो जाने पर वे अपने आरम में वापय आ गये।

महापुरुषों का यही लक्षण बताया गया है कि संपत्ति-विपत्ति में अपनी चित्तवृत्ति को संतुलित रखें और उद्देश्य से किसी दशा में पीछे पैर न हटावें। भला-बुरा समय सब पर आता है; सुख-दुःख, हानि-लाभ, सफलता-असफलता, मान-अपमान के द्वंद्व से कोई बच नहीं सकता, तो फिर अपनी निर्बलता को प्रकट करने से, अपनी चित्तवृत्ति को हीन बनाने से क्या उपकार हो सकता है ? जो निर्बल चित्त पुरुष अपना दुःख चाहे जिसके सामने रोते रहते हैं, उनकी सहायता तो कोई करता नहीं, उलटा सामने नहीं तो पीठ पीछे हँसी उड़ाने वाले अनेक निकल आते हैं। इसलिये श्रेष्ठ मनुष्यों की कार्य-प्रणाली यही होती है कि वे किसी भी परिस्थिति में धैर्य नहीं छोड़ते और फल की चिंता न करके अपने कर्तव्यपालन में लगे रहते हैं। इसका परिणाम प्रायः यह होता है कि 'ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं, वाली कहावत के अनुसार किसी न किसी स्रोत से उनको सहायता भी मिल जाती है। यदि सहायता न भी मिले तो हृदय में यह संतोष रहता है कि हमने अपनी सामर्थ्य भर उद्योग कर लिया, सफलता-असफलता तो परमात्मा के अधीन है।

इसी दैवी नियम को अपना आदर्श मानकर महाकवि दोनों संस्थाओं का संचालन अपने जीवन के अंतिम वर्ष (१९४१) तक करते रहे। सन् १९४० के सितंबर से ही वे बीमार हो गये और मई १९४१

तक हालत खराब रही। इलाज के लिए उनको शांति निकेतन से कलकत्ता लाया गया, जहाँ प्रसिद्ध डॉक्टर उनकी देख-भाल करते थे। उस समय गांधीजी ने अपने प्राइवेट सेक्रेटरी महादेव देसाई को उनका समाचार लेने वर्धा से कलकत्ता भेजा। गांधीजी का प्रेमपूर्ण संदेश सुनकर उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। इसके पहले कभी किसी ने उनकी आँखों में आँसू नहीं देखे थे। गांधीजी के हार्दिक प्रेम ने ही उनके हृदय को इस प्रकार द्रवित कर दिया।

इसके बाद बीच में उनकी तबियत कुछ सँभली। महाकवि की वर्षगाँठ बैसाख महीने में बड़ी धूम-धाम से मनाई गई। सब आश्रमवासियों ने खूब सजावट की और महाकवि को अनेक वस्तुएँ भेंट दी गईं। यद्यपि सब लोग उनको देखकर यह नहीं जानते थे कि यही उनकी अंतिम वर्षगाँठ हैं, पर वे स्वयं इस बात को अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने उस अवसर पर जो कविता बनाई उसमें आने वाली मृत्यु का स्पष्ट संकेत था।

वर्षा प्रारंभ होने पर उनका स्वास्थ्य फिर बिगड़ने लगा और इलाज के लिये फिर कलकत्ता जाना पड़ा, वहाँ सात जून १९४१ को उन्होंने अंतिम साँस ली और अपना कर्तव्य पूरा करके जहाँ से आये थे वहीं चले गये।

रवींद्र का साहित्य और कला—

भारतवर्ष में कवियों और ग्रंथकारों की कमी नही है। सभी प्रदेशों में और भाषाओं में दो-चार ऐसे कवि और रचयिता अवश्य हुये हैं, जिनका नाम और यश स्थायी हो गया है। इन सबकी रचनायें उत्कृष्ट श्रेणी की और मानव-मन को श्रेष्ठता का मार्ग दर्शन करानी वाली हैं। पर रवींद्र के काव्य और कथा-साहित्य में कई ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उनको सच्चे अर्थों में विश्व कवि बनाती हैं।

पहली विशेषता यह है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह किसी एक देश या जाति के लोगों को लक्ष्य करके नहीं लिखा। एक सच्चे अध्यात्मवादी की तरह उनको मनुष्यों के बीच किसी तरह का अंतर नहीं जान पड़ता, वरन् 'एकोऽहम बहुस्याम' की वैदिक घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उनको एक ही स्रोत से निर्गत प्रतीत होता

था। यद्यपि उन्होंने अपनी रचनाएँ बंगला भाषा में लिखीं, इस कारण उनमें जो नाम आदि आये और जिन प्राकृतिक वातावरण तथा दृश्यों का चित्रण किया गया, वह अधिकांश में वहीं से संबंधित था, तो भी उनका लक्ष्य मानव मात्र को अपना संदेश सुनाना रहा। उनके द्वारा रचित बहुसंख्यक पुस्तकों पर इसी दृष्टि से विचार करते हुये एक विद्वान् ने रवींद्र-साहित्य का विश्लेषण इन शब्दों में किया है—

"कवींद्र-रवींद्र की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने कविता की है, कहानियाँ लिखी हैं और नाटक निर्मित किये हैं, उपन्यास रचे हैं और निबंध लिखे हैं। कितनी विविधता है उनके साहित्य में, शायद ही उनके समकालीन किसी लेखक का 'केनवास' (क्षेत्र) इतना विस्तीर्ण हो। रविंद्र ठाकुर का साहित्य किसी देश और काल का साहित्य नहीं है, वह साहित्य है समस्त विश्व का और सब कालों का। वह संसार की मानवता से संबंध रखता है और चिर-समस्याओं संबंधी संदेश देता है। प्यासी मानवता के लिये वह खारा समुद्र न होकर क्षीर-सागर है। ये मानव दुःखों के निवारणार्थ समाज की कटु या तीखी आलोचना करके अपने साहित्य द्वारा कोई व्याख्यान नहीं देते, पर जो कुछ कहते हैं, मानव की निर्बलताओं को अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक देखते हुए कलात्मक ढंग से। फिर उनका कथन उस देवदूत के सदृश जान पड़ता है, जो मानव के सामाजिक संबंधों से जकड़ा हुआ नहीं है। वह उनसे कुछ दूर है, कुछ हटा हुआ, पर इतनी दूर और इतना हटा हुआ भी नहीं, कि निस्पृह और सहानुभूति से रहित हो जाए।

"उनका साहित्य ऐसी मनोदशा में रचा हुआ जान पड़ता है, जो मनोदशा उसी मन की हो सकती है, जो छोटे-से शरीर में रहते हुए भी अपने को समस्त सृष्टि में व्याप्त अनुभव करे। इसीलिये उनके साहित्य में अत्यधिक व्यापकता है। वह तर्क पर आश्रित नहीं श्रद्धा पर आश्रित है। वह श्रद्धा किसी प्रकार के अंध-विश्वासों की श्रद्धा नहीं है, पर यह ऐसी श्रद्धा है जो अनित्य और अस्थायी वस्तुओं से परे नित्य और स्थायी वस्तु पर ही रह सकती है। रवि ठाकुर के साहित्य में किसी प्रकार के सिद्धांत की कट्टरता या हठधर्मी अथवा

वाद-विवाद नहीं मिलेगा। उसका लक्ष्य है मानवता को हर दृष्टि से सच्चा मानव बनाने और उसे ऊँचा उठाने का। कवि सम्राट् का इस प्रकार का साहित्य इसलिये हो सका कि उनके आस्तिक और आशावादी मन को मानव की निर्बलताएँ आच्छादित नहीं कर पायीं।"

"सत्य तो यह है कि महाकवि भारतवर्ष के प्राचीन महाकवियों की परंपरा में से थे और महाभारत तथा रामायण जैसी दैवी भावयुक्त रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण करके वे उसी मार्ग पर चले थे। व्यास, वाल्मीकि, तुलसी आदि महाकवियों ने जो कुछ लिखा है वह यद्यपि हिंदूधर्म से संबंधित माना जाता है, पर इस वैज्ञानिक-युग में भी योरोप और अमेरिका के विद्वान् उसे अपनी भाषाओं में अनुवादित करके और अध्ययन करके उसे महत्त्व दे रहे हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने जो कुछ कहा है, वह मानव मात्र को एक मानते हुये ही कहा गया है। महाकवि रवींद्र भी इसी मार्ग के अनुयायी थे और उनकी रचनायें किसी संकीर्ण घेरे में आबद्ध न होकर विश्व-मानव की एकता और श्रेष्ठता का ही संदेश देती है।"

❐ ❐

मुद्रक युग निर्माण योज़ना प्रेस, मथुरा